© 2017 IJSRSET | Volume 3 | Issue 6 | Print ISSN: 2395-1990 | Online ISSN : 2394-4099
Themed Section : Engineering and Technology

श्रीमद्भगवद्गीता में लोकसंग्रह

निधि यादव
(जे.आर.एफ.)
शोधच्छात्रा,
संस्कृत विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद।

लोक संग्रह शब्द का अर्थ है 'लोगों का संग्रह करना'। संग्रह शब्द का अर्थ है 'कोश में जमा करना, इकट्ठा करना, पालना, नियमन करना' आदि। इस प्रकार लोक संग्रह का अर्थ हुआ–''लोगों को एकत्र सम्बद्ध करके इस प्रकार से उनका पालन–पोषण एवं नियमन करना कि उनकी परस्पर अनुकूलता से उत्पन्न होने वाला सामर्थ्य उनमें आ जावे एवं उसके द्वारा उनकी सुस्थिति को स्थिर रखकर उन्हें श्रेयः प्राप्ति के मार्ग में लगा देना।[1] मनुस्मृति में भी राष्ट्र का संग्रह शब्द इसी अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।[2] शाŠरभाष्य में इस शब्द की व्याख्या है–''लोक संग्रह लोकस्यीन्मार्ग प्रवृत्तिनिवारणम्'' अर्थात् अज्ञानता के कारण मनमाना बर्ताव करने वाले व्यक्तियों को ज्ञानवान बनाकर सुस्थिति में एकत्र रखना और आत्मोन्नति के मार्ग में लगाना। लोक संग्रह में लोक शब्द मनुष्यवाची न होकर सम्पूर्ण मानव–जाति का बोधक है। तथापि भगवान की ऐसी इच्छा है कि ''भूलोक, सत्यलोक, पितृलोक, देवलोक आदि अनेकलोक जिसका निर्माण भगवान ने किया है, उनका भी भली–भाँति भरण–पोषण हो।[3]

भवगद्गीता[4] तथा महाभारत के नारायणीयोपाख्यान में यज्ञ चक्र का वर्णन कथित है कि, देवलोक और मनुष्यलोक दोनों ही के धारण–पोषण हेतु ब्रह्मा ने यज्ञ उत्पन्न किया। इससे स्पष्ट होता है कि भगवद्गीता में लोकसंग्रह पद से अकेले मनुष्य का अर्थ विवादित न होकर देव आदि समस्त लोकों का है तथा इन दोनों का परस्पर भरण–पोषण होवे, और ये परस्पर एक–दूसरे का श्रेय सम्पादन करें। सम्पूर्ण सृष्टि का पालन–पोषण करके लोक–संग्रह करने का जो यह अधिकार भगवान का है, वहीं ज्ञानी पुरुष को अपने ज्ञान के कारण प्राप्त होता है क्योंकि ज्ञानी पुरुष की बात को सभी जन प्रामाणिक मानते है और उसे प्रमाण मानकर तदनुकूल व्यवहार भी किया करते हैं।[5] शान्तिपर्व में भीष्म ने इसी अभिप्राय से युधिष्ठिर से कहा है–''लोक संग्रहकारक और सूक्ष्म प्रसंगों पर धर्मार्थ का निर्णय कर देने वाला साधुपुरुषों का उत्तम चरित्र स्वयं ब्रहमदेव ने ही बनाया

---

[1] गीता रहस्य–बाल गंगाधर तिलक पृष्ठ सं0 33।

[2] मनुस्मृति 7/114

[3] गीता रहस्य–बालगंगाधर तिलक पृ0सं0–332

[4] गीता 3/10, 12– सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्।।

[5] गीता 3/21 – इष्टान् भोगान् हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः।।

है।''[6] लोकसंग्रह साधुपुरुषों के कर्त्तव्यों में से प्रधान कर्त्तव्य है। भगवान श्रीकृष्ण भी कहते है कि ''मैं यह काम न करूँ, तो ये समस्त लोक अर्थात् जगत् नष्ट हो जायेंगे।''[7] संन्यास मार्ग के मानने वालों का मत है, कि ज्ञानी पुरुष को चातुर्वर्ण्य के कर्म निष्काम बुद्धि से करने की कोई आवश्यकता नहीं है और करना भी नहीं चाहिये। इसलिए इस सम्प्रदाय के टीकाकार कृष्ण को ढोंग का उपदेश देने वाला मानते हैं।[8] किन्तु श्रीमद्भगवद्गीता को यह तथ्य स्वीकार नहीं है गीता का कथन है, ज्ञानी पुरुष को कर्म छोड़ने का अधिकार कदापि नहीं है। इसके पीछे लोक संग्रह एक मुख्य कारण है। इस जगत् में मनुष्य केवल स्वयं के लिए ही उत्पन्न नहीं हुआ है। यह सत्य है कि, सामान्य लोग अज्ञानतावश स्वार्थ सिद्धि में डूबे रहते हैं। ''मैं सब भूतों में हूँ, और सब भूत मुझमें हैं''[9] अर्थात् जिसको समस्त संसार आत्मभूत हो गया है, उसका अपने मुख से यह कहना ज्ञान में बट्टा लगाना है कि 'मुझे तो मोक्ष मिल गया, अब यदि लोग दुःखी हो तो मुझे इसकी क्या परवाह? ज्ञानी पुरुष की आत्मा क्या कोई स्वतन्त्र व्यक्ति है।[10] जब तक व्यक्ति की आत्मा पर अज्ञान का पर्दा पड़ा था, तब तक उसे 'अपना' तथा पराया का भेद ज्ञात था परन्तु ज्ञान प्राप्ति के बाद सब लोगों की आत्मा ही उसकी आत्मा है। योग वासिष्ठ में श्रीरामचन्द्र से वसिष्ठ ने कहा[11]

यावल्लोक परामर्शो निरूढो नास्ति योगिनः।
तावरूढ़ समाधित्वं न भवत्येव निर्मलम्।।

जब स्वयं भगवान 'साधुओं के संरक्षक, दुष्टों के नाश और धर्म संस्थापना' हेतु लोकसंग्रह का कार्य करने के लिए समय पर अवतार लेते हैं।[12] तब लोकसंग्रह के कर्तव्य को छोड़ देने वाले ज्ञानी पुरुष का यह कहना सर्वथा अनुचित है–''जिस परमेश्वर ने इन सभी लोगों को उत्पन्न किया है, वह उनका जैसा चाहेगा वैसा धारण पोषण करेगा। उधर देखना मेरा काम नहीं है।'' क्योंकि ज्ञान प्राप्ति के बाद 'परमेश्वर' 'मैं' और 'लोग' यह भेद ही नहीं रहता यदि रहता है तो उसे ढोंगी कहना चाहिए, ज्ञानी नहीं। यदि ज्ञान से युक्त पुरुष परमेश्वर रूप हो जाता है तो परमेश्वर जो काम करता है वह परमेश्वर के समान अर्थात् निसंग बुद्धि से कार्य करने की आवश्यकता ज्ञानी पुरुष को कैसे छोड़ेगा।[13]

---

[6] महाभारत, शांतिपर्व 258/25

[7] गीता 3/24–उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः।।

[8] गीता रहस्य–बालगंगाधर तिलक, पृ0–333

[9] गीता 6/26– यतो यतो निश्चरति मनश्च×चलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्।।

[10] तिलक पृष्ठ सं0 333

[11] योग वासिष्ठ 128/97

[12] गीता 4/8 परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे।।

[13] गीता 3/22 न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि।।

गीता 4/14 न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफलेस्पृहा।
इति मां योऽभि जानाति कर्माभिर्न स बध्यते।।

भागवत्पुराण के उद्धरणों से पता चलता है कि भगवान के अवतार अथवा भगवान के समस्त कार्य लोकसंग्रह हेतु होते हैं। भगवान विष्णु कहते हैं ''देव! मैं आपकी आज्ञा के अनुसार कर्म और ज्ञान के उद्देश्य से प्रवृत्ति और निवृत्ति के द्वारा यथोचित रूप से प्रजाओं का पालन करूँगा।[14] ''जो भोगों की इच्छा रखने वाला हैं, उन्हें अवश्य ही उनके किये हुए यज्ञादि कर्मों का फल अर्पण करूँगा, तथा जो संसार बंधन से मुक्त होना चाहते हैं, विरक्त हों, उन्हें उनके इच्छानुसार पाँच प्रकार की मुक्ति भी देता रहूँगा।[15]'' आधुनिक महान् सन्तों में स्वामी विवेकानन्द एक महान कर्मयोगी थे। उनके विचार अद्भुत थे ''केवल अपना मोक्ष चाहोगे तो नरक में गिरोगे। दूसरों का मोक्ष चाहो,पर सेवा के लिए नरक भी भोगना पड़े तो वह अपनी मुक्ति द्वारा अर्जित स्वर्ग से भी उत्तम है।'' गुरु गोविन्द सिंह का उदाहरण हमारे सामने है। समाज के मोक्ष के लिए पिता, पुत्र, पत्नी सब कुछ का त्याग कर दिया।[16]

पुनः स्वामी विवेकानन्द का कहना है कि ''तुम्हें पहले अपने कमरे के दरवाजे और खिड़कियों को खोलना होगा तत्पश्चात् घास के आस–पास अभावग्रस्त, दुखी लोगों की यथा साध्य सेवा करनी होगी। जो पीड़ित हैं उनके लिए औषधि और पथ्य का प्रबन्ध करना होगा। शरीर के द्वारा उनकी सेवा सुश्रुषा करो। जो भूखा है उसके लिए खाने का प्रबन्ध करो। तुमने तो इतना पढ़ा–लिखा है अतः जो अज्ञानी हैं उन्हें समझाओ, पढ़ाओं। यदि तुम इस प्रकार कर सकोगे तो तुम्हारे मन को शान्ति अवश्य मिलेगी।[17]

श्रीकृष्ण गीता में कहते हैं–''स्वभाव और गुणों के अनुरूप प्रचलित चातुर्वर्ण्य आदि व्यवस्थाओं के अनुसार जिस कर्म को हम सदा से करते चले आ रहे हैं, स्वभाव के अनुसार उसी कर्म अथवा व्यवस्था को ज्ञान से इतर भी ज्ञानी पुरुष करता रहे क्योंकि उसमें उसको निपुण होने की सम्भावना है। यदि वह कोई और व्यापार करने लगेगा, तो इससे समाज की हानि होगी।''[18] आगे श्रीकृष्ण कहते हैं लोक संग्रह को फल की इच्छा से भी नहीं करना चाहिए, क्योंकि कर्म में असफलता प्राप्ति होने पर दुःख अवश्य होगा। अतः ''मैं लोक संग्रह करूँगा'' इस अभिमान या फलाशा को मन में न रखकर लोक संग्रह भी कर्त्तव्य बुद्धि से करना चाहिए। श्रीकृष्ण कहते हैं लोक संग्रह की दृष्टि से तुझे कर्म करना चाहिए।[19]

अनासक्त बुद्धि से कर्म करने का जो उपदेश भगवान ने अर्जुन को दिया है, वह लोक संग्रह के लिए उपयुक्त है। मनुस्मृति में उल्लिखित है प्रत्येक मनुष्य जन्म के साथ ही अपनी पीठ पर ऋषियों, पितरों और देवों के तीन ऋण लेकर उत्पन्न हुआ है इसलिए वेदाध्ययन से ऋषियों का और यज्ञ कर्मों से देवताओं का ऋण चुकाये बिना मनुष्य संसार छोड़कर संन्यास नहीं ले सकता। यदि वह ऐसा करता है तो जन्म से ही पाये हुए कर्ज को न चुकाने के कारण अधोगति को प्राप्त करता है।[20] बाद में चलकर स्मृतिकारों की बनायी

---

[14] श्रीमद्भागवत् महापुराण (द्वितीय खण्ड), गीता प्रेस गोरखपुर, संवत 2061 पृ0सं0 846, श्लोक सं0 29

[15] श्रीमद्भागवत् महापुराण (द्वितीय खण्ड), गीता प्रेस गोरखपुर, संवत 2061 पृ0सं0 846, श्लोक सं0 30

[16] स्वामी विवेकानन्द–रामलाल–शरद प्रकाशन, आगरा 1993, पृ0सं0 24

[17] स्वामी विवेकानन्द–रामलाल–शरद प्रकाशन, आगरा 1993, पृ0सं0 25

[18] गीता 3/35–श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात्।

स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः।।

गीता 18/47– श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात्।

स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्।।

[19] गीता 3/20–कर्मणैव हि सांसिद्धिमास्थिता जनकादयः।

लोक संग्रहमेवापि सम्पश्यन् कर्तुमर्हसि।।

[20] मनुस्मृति 6/35

हुयी यह मर्यादा जब भंग होने लगी तो ज्ञान प्राप्ति के बाद इन तीनों सीढ़ियों को अनावश्यक मानकर संन्यास आश्रम को ही सर्वोत्तम माना गया।[21] परन्तु गीता का यह सिद्धान्त पूर्णतया तर्क संगत है कि ज्ञानी पुरुष को अन्त तक कर्म करना चाहिए। ''माता (पृथ्वी) के आश्रम से जिस प्रकार जन्तु जीवित रहते हैं उसी प्रकार गृहस्थ आश्रम के सहारे अन्य आश्रम हैं।[22]

अब प्रश्न यह उठता है कि प्राणिमात्र में एक ही आत्मा मानकर यदि प्रत्येक पुरुष सर्वदा प्राणिमात्र का ही हित करने लग जाय, तो उसका निर्वहन कैसे होगा? और जब वह इस प्रकार अपना ही योगक्षेम नहीं कर सकेगा तो और लोगों का कल्याण कैसे कर सकेगा? श्रीकृष्ण ने गीता में इसका उत्तर दिया है–'तेषां नित्याभि युक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम' अर्थात् निरन्तर मेरा ही चिन्तन करने वाले पुरुषों का योगक्षेम मैं स्वयं प्राप्त करा देता हूँ अप्राप्त की रक्षा का नाम क्षेम है। जिस प्रकार मातृपरायण शिशु की देखरेख माता करती है उसी प्रकार भगवान भी भक्त की देखभाल करते हैं।[23]

---

21 मनुस्मृति 6/90

22 गीता 3/17–यस्त्वात्मरतिरेण स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते।।
गीता 5/2– संन्यासः कर्मयोगश्च निः श्रेयसकरावुभौ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते।।

23 गीता 9/22– अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्।।